

अर्थाधिगम-चिन्तन

अन्तः और बाह्य पदार्थोंके ज्ञापक साधनोंपर प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंमें विचार किया गया है और सबने अर्थाधिगमका साधन एकमात्र प्रमाणको स्वीकार किया है। 'प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था', 'मानाधीना हि मेयस्थितिः', 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण ही प्रमेयकी सिद्धि अथवा व्यवस्था या ज्ञानका साधन है, अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शनमें अर्थाधिगमके साधन

पर जैन दर्शनमें प्रमाणके अतिरिक्त नयको भी पदार्थोंके अधिगमका साधन माना गया है। दर्शनके क्षेत्रमें अधिगमके इन दो उपायोंका निर्देश हमें प्रथमतः 'तत्त्वार्थसूत्र' में मिलता है। तत्त्वार्थ-सूत्रकारने लिखा है कि तत्त्वार्थका अधिगम दो तरहसे होता है :—१. प्रमाणसे और २. नयसे। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकोंका भी यही मत है। यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाता है।

प्रमाण

अन्य दर्शनोंमें जहाँ इन्द्रियव्यापार, ज्ञातुव्यापार, कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ-प्रमिति बतलाई गई है वहाँ जैन दर्शनमें स्वार्थ-व्यवसायि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ-परिच्छिन्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय-व्यापार आदिको प्रमाण न मानने तथा ज्ञानको प्रमाण माननेमें जैन चिन्तकोंने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ-प्रमितिमें अव्यवहित—साक्षात् करण है और इन्द्रियव्यापार आदि व्यवहित—परम्परा करण हैं तथा अव्यवहित करणको ही प्रमाजनक मानना युक्त है, व्यवहितको नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान-निवृत्तिरूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार आदिके द्वारा नहीं। प्रकाशद्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादिद्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनमें प्रमाण ज्ञानरूप है और वही अर्थ-परिच्छेदक है।

प्रमाणसे दो प्रकारकी परिच्छिन्ति होती है :—१. स्पष्ट (विशद) और २. अस्पष्ट (अविशद)। जिस ज्ञानमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट होता है तथा असन्दिग्ध, अवि-

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—तत्त्वार्थसू० १-६।

२. (क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय-संस्कृतम् ॥'

—समन्तभद्र, आप्तमो० का० १०१।

(ख) 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते।

तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'

—अभिनव धर्मभूषण, न्यायदो० पृ० ४।

परीत एवं निर्णयात्मक होता है। जैन दर्शनमें ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किये गये हैं। वे हैं अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इन तीन ज्ञानोंको मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है।^१ पर जिन ज्ञानोंमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा रहती है वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अंशोंमें वे व्यवहारा-विसंवादी होते हैं उतने अंशोंमें वे असंदिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होते हैं, शेष अंशोंमें नहीं। ऐसे ज्ञान दो हैं :—१ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानोंमें परकी अपेक्षा होनेसे उनकी परोक्ष संज्ञा है।^२ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानोंका समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है^३। इस तरह परोक्ष और प्रत्यक्षरूप इन मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानसे अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादिकी अपेक्षासे होने वाले चाक्षुष आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोकसंव्यवहारके कारण होते हैं और उन्हें लोकमें 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानोंको लोकव्यवहारकी दृष्टिसे जैन चिन्तकोंने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा है। वैसे वे परोक्ष ही हैं।

अर्थाधिगमका हेतु नय, और प्रमाणसे उसका कथंचित् पार्थक्य

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगमका साधन है तो वह ज्ञानरूप है या नहीं? यदि ज्ञानरूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाणसे पृथक् अर्थाधिगमका उपाय बतानेकी क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनोंकी भाँति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्याज्ञानोंसे भी यथार्थ अर्थाधिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञानरूप नहीं है तो उसे सन्निकर्षादिकी तरह जापक स्वीकार नहीं किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नयको अर्थाधिगमोपाय मानने वाले जैन दर्शनके सामने उठते हैं। जैन मनीषियोंने इन सभी प्रश्नोंपर बड़े ऊहापोहके साथ विचार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नयको अर्थाधिगमोपायके रूपमें अन्य दर्शनोंमें स्वीकार नहीं किया गया है और जैन दर्शनमें ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तवमें 'नय' ज्ञानका एक अंश है^४ और इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रमाणका एकदेश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थमें अंशकल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है और जब पदार्थमें अंशकल्पना किये बिना वह उसे समग्र रूपमें ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूपसे व्यवहृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहा गया है और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानोंमें विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमें विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिबिम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानोंमें विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इस

१-२. 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्', 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'

—तत्त्वार्थसू० १-९, १०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'

—तत्त्वार्थसूत्र १-१३।

४. 'प्रमाणकदेशाश्च नयाः.....'—पूज्यपाद, सर्वार्थ० १-३२।

लिए उन्हें 'परोक्ष' कहा है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्यय और केवल) में विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिफलित होता है,^१ अतः उन्हें 'प्रत्यक्ष' प्रतिपादन किया है।

प्रतिपत्ति-भेदसे भी प्रमाण-भेदका निरूपण किया गया है। यह निरूपण हमें पूज्यपाद-देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिमें उपलब्ध होता है। पूज्यपादने लिखा है^२ कि प्रमाण दो प्रकारका है :—१. स्वार्थ और २. परार्थ। श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष चारों मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वार्थ-प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाताके लिए) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनोके लिए) नहीं। परार्थप्रतिपत्तिका तो एकमात्र साधन वचन है और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं। किन्तु श्रुत-प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है। ज्ञानात्मक श्रुत प्रमाणको स्वार्थ-प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक श्रुत प्रमाणको परार्थ-प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः श्रुत-प्रमाणके द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ-प्रतिपत्ति दोनों होती हैं। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ-श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ प्रतिपत्ति होती है। ज्ञाता-वक्ता जब किसी वस्तुका दूसरे को ज्ञान करानेके लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तुमें अंश-कल्पना—पट, घट, काला, सफेद, छोटा, बड़ा आदि भेदों द्वारा उसका श्रोता या विनेयोंको ज्ञान कराता है। ज्ञाता या वक्ताका वह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण है और श्रोताको जो वक्ताके शब्दोंसे बोध होता है वह वास्तव परार्थ श्रुत-प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ताका जो अभिप्राय रहता है और जो अंशग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण है। निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक स्वार्थश्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि जैन दर्शन-ग्रन्थोंमें ज्ञाननय और वचननयके भेदसे दो प्रकारके नयोंका भी विवेचन मिलता है^३।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नय श्रुत-प्रमाणका अंश है, वह मति, अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानका अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञात सीमित अर्थके अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं होती। नय तो समस्त पदार्थोंके अंशोंका एकैकशः निश्चायक है, जबकि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते। यद्यपि केवलज्ञान उन समस्त पदार्थोंके अंशोंमें प्रवृत्त होता है और इसलिए नयको केवलज्ञानका अंश माना जा सकता है किन्तु नय तो उन्हें परोक्ष-अस्पष्ट रूपसे जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूपसे उनका साक्षात्कार करता है। अतः नय केवलमूलक भी नहीं है। वह सिर्फ परोक्ष श्रुतप्रमाणमूलक ही है।^४

१. 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥'—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसि० का० १।

२. "तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्जम्। श्रुतं

पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।"

—पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १-६।

३. "ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्तव्यः स्वार्थं इव ज्ञानात्मभिः प्रमाणनयैः,

अन्यथा कात्स्न्येनैकदेशेन तत्त्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।"

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १४२।

४. "मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा।

ज्ञातस्यार्थस्य नांशोऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥

निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात्।

तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥

अतएव नय न अज्ञानरूप है, न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप । अपितु प्रमाणका एकदेश है । इसीसे उसे प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है । अंशप्रतिपत्तिका एकमात्र साधन वही है । अंशी—वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अंश—अवस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय कहा गया है^१ । प्रमाण और नयके पारस्परिक अन्तरको स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियोंने कहा है^२ कि प्रमाण समग्रको विषय करता है और नय असमग्रको ।

प्रखर तार्किक विद्यानन्दने तो उपर्युक्त प्रश्नोंका युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नयके पार्थक्यका बड़े अच्छे ढंगसे विवेचन किया है । वे जैन दर्शनके मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें कहते हैं^३ कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्रसे लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है । यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा, अथवा बहुत समुद्रोंकी कल्पना करनी

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात्, मत्यादीनां तदगोचरत्वात् । न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वाप्रवृत्तेः ।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः ।

केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥

परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु ।

श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्बन्धदर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः । ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पत्त्यामस्तद्वृत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात् ।”

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० १-६, पृ० १२४ ।

१. (क) “एवं हि उक्तम्—“प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थविधारणं नयः ।”

—सर्वार्थसि० १-६ ।

(ख) “वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः ।”

—सर्वा० सि० १-३३ ।

२. (क) ‘सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः’ ।—स० सि० १-६ ।

(ख) ‘अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥’—अष्टस० पृ० २९० ।

३. (क) नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।

स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ —त० श्लो० वा० पृ० १२३ ।

(ख) ‘नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥

तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता ।

समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कोस्तु समुद्रवत् ॥ —त० श्लो० पृ० ११८ ।

पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाय तो शेषांशोंको भी असमुद्र कहा जायेगा और उस हालतमें समुद्रका व्यवहार कहीं भी नहीं होगा। ऐसी स्थितिमें किसीको 'समुद्रका ज्ञाता' नहीं कहा जायगा।

अतः नयको प्रमाणैकदेश मानकर उसे जैनदर्शनमें प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय बताया गया है। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता और श्रोताकी दृष्टिसे उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसारके समस्त व्यवहार और वचन-प्रवृत्ति नयोंके आधारपर ही चलते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक अंशको जानना या कहकर दूसरोंको जनाना नयका काम है और उस पूरी वस्तुको जानना प्रमाणका कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं बन सकता। स्वार्थप्रमाण गूंगा है। वह बोल नहीं सकता और न विविध वादों एवं प्रश्नोंको सुलझा सकता है। वह शक्ति नयमें ही है। अतः नयवाद जैन दर्शनकी एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शनको उसकी अनुपम देन है।

उपसंहार

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसका पूरा बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते। हाँ, नयोंके द्वारा एक-एक धर्मका बोध करते हुए अनगिनत धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। वस्तुको जब द्रव्य या पर्यायरूप, नित्य या अनित्य, एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक-एक अंशका ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकारका ग्रहण नय द्वारा ही संभव है, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेनने नयवादकी आवश्यकतापर बल देते हुए लिखा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नय हैं। मूलमें दो नय स्वीकार किये गये हैं^१—१. द्रव्याधिक और २. पर्यायाधिक। द्रव्य, सामान्य, अन्वयका ग्राहक द्रव्याधिक और पर्याय, विशेष, व्यतिरेकका ग्राही पर्यायाधिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सब मिलकर प्रमाणका विषय हैं। इस प्रकार विदित है कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु-अधिगमके साधन हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें वस्तुके ज्ञापक एवं व्यवस्थापक हैं।



१. 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होति णववाया' —सन्मतितर्क ३-४७।

२. 'नयो द्विविधः, द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च। पर्यायाधिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां त्रयाणां द्रव्याधिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। द्रव्याधिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। पर्यायाधिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्।'—सर्वार्थसि० १-३३।